श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज

अध्यात्म की आधारशिलाएँ

: लेखक :

श्री स्वामी कृष्णानन्द

: अनुवादिका :

श्रीमती गुलशन सचदेव

: प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,

पत्रालय—शिवानन्दनगर – २४९ १९२,

जिला टिहरी-गढ़वाल (उत्तर प्रदेश), हिमालय।

प्रकाशकीय वक्तव्य

परम पावन श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज की अमृत-वाणी में जो तत्त्व होता है वह शाश्वत महत्त्व का है, अखण्डनीय है। जीवन की यात्रा में यही तत्त्व पाथेय बनता है और परम सत्ता की प्राप्ति में यही सम्बल बनता है। पूज्य स्वामी जी की शुभ षष्ट्यब्दपूर्त्ति के अवसर पर नश्वर और अनित्य मानव को अमरता और नित्यता का प्रसाद वितरित करने के उद्देश्य से इस लघु सङ्कलन में वह सब-कुछ सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया है जो उसे आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक ले जाने में समर्थ है।

पूज्य स्वामी जी के लेखों का यह सङ्कलन आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला है, अध्यात्म-गङ्गा है तथा अध्यात्म-तत्त्व का महाप्रसाद है। परम पावन श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज की शुभ षष्ट्यब्दपूर्त्ति के अवसर पर प्रकाशित दश लघु पुस्तिकाओं की माला से संगृहीत ये अमृतोद्गार जिज्ञासु साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध हों, यह ईश्वर से कामना है।

—दिव्य जीवन सङ्घ

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

अध्यात्म की आधारशिलाएँ

दिव्य जीवन की महिमा

दिव्य जीवन न तो जीने की विधाओं में से एक है और न ही जीवन की कोई एक अवस्था है। यह तो प्रेरणा एवं अवबोध की वह सामान्य पार्श्वभूमि है जो सभी अवस्थाओं को अनुप्राणित करता है और प्रत्येक प्रकार के चिन्तन एवं कर्म की पद्धति को प्राणवान् करता तथा सार्थक बनाता है।

ब्रह्माण्ड के विषय में आध्यात्मिक दृष्टिकोण अङ्गीकार किये बिना विवेकपूर्ण एवं सफल जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। मन्दिर में देवार्चना, शास्त्रोक्त अनुष्ठान, आचार-व्यवहार के नियमों का अनुसरण अथवा किसी सम्प्रदाय, जाति या धर्म को आचरित करना ही आध्यात्मिकता नहीं है। यह केवल परमात्मा में विश्वास की भावना भी नहीं है; क्योंकि यह इस भाव से भी ऊपर है। आध्यात्मिकता वह व्यापक बोध एवं मूल्याङ्कन है जिससे ब्रह्माण्ड को उसकी समग्रता में ही लिया जाता है—खण्डों अथवा भागों में नहीं—जिसके द्वारा उसकी एकता का अभिज्ञान होता है। इतना ही नहीं, आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य ब्रह्माण्ड की समग्रता को एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् आत्मा

के रूप में जानना तथा साक्षात्कार करना है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि में सभी मानवीय रोगों एवं समस्याओं का यही निदान है।

यह ज्ञान, जिस पर सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ आधारित हैं, विषयों के प्रति बाह्यमुखता से वैराग्य की पूर्वपीठिका है। संन्यास वस्तुतः किसी पदार्थ-विशेष का त्याग नहीं, प्रत्युत् पदार्थ में पदार्थत्व का, विषय में विषयत्व का, अनुभव में बहिर्भाव का एवं चैतन्य में प्रक्षेपण का परित्याग है। संन्यास ब्रह्म में चरम परिणति की एक शर्त है। व्यक्तित्व एवं इस एकमात्र लक्ष्य में इसके सहगामी विषयों के समर्पण के बिना आत्यन्तिक आत्म-साक्षात्कार की आशा नहीं की जा सकती। समर्पण करते ही आसक्ति समाप्त हो जाती है, मन शान्त हो जाता है, इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती हैं, काम-वासना प्रशमित हो जाती है, चेतना एकाग्र होने लगती है, आनन्द का आविर्भाव होता और अन्तःस्तल में अत्यधिक शक्ति का आभास होता है। यह सब व्यक्ति के परम सत्य के साथ ऐक्य, सभी शक्तियों का इसके साथ एकीभाव और इसमें सब भेदों एवं विषयत्व के विलय का परिणाम है। इस कार्य के माध्यम से व्यक्ति वैश्व केन्द्र से शक्ति ग्रहण करता है और उसके साथ एकीभूत भी हो जाता है।

जीवन का प्रत्येक कर्म ब्रह्म पर अवधानपूर्ण ध्यान का द्योतक बन जाना चाहिए। जब तक सभी कर्म इसी चेतना पर आधारित नहीं होते, इन कर्मों का कोई आत्यन्तिक मूल्य नहीं हो सकता। ब्रह्म सभी पदार्थों, कर्मों तथा विचारों की प्राणिक सत्ता है। अतः इसके बिना प्रत्येक वस्तु निष्प्राण एवं अर्थहीन हो जाती है। आध्यात्मिकता चैतन्य की एक अवस्था है। यह क्रियाओं का रूप-विशेष ही नहीं है। जब चैतन्य को इस ऐक्य

के रूप में जानना तथा साक्षात्कार करना है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि में सभी मानवीय रोगों एवं समस्याओं का यही निदान है।

यह ज्ञान, जिस पर सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ आधारित हैं, विषयों के प्रति बाह्यमुखता से वैराग्य की पूर्वपीठिका है। संन्यास वस्तुतः किसी पदार्थ-विशेष का त्याग नहीं, प्रत्युत् पदार्थ में पदार्थत्व का, विषय में विषयत्व का, अनुभव में बहिर्भाव का एवं चैतन्य में प्रक्षेपण का परित्याग है। संन्यास ब्रह्म में चरम परिणति की एक शर्त है। व्यक्तित्व एवं इस एकमात्र लक्ष्य में इसके सहगामी विषयों के समर्पण के बिना आत्यन्तिक आत्म-साक्षात्कार की आशा नहीं की जा सकती। समर्पण करते ही आसक्ति समाप्त हो जाती है, मन शान्त हो जाता है, इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती हैं, काम-वासना प्रशमित हो जाती है, चेतना एकाग्र होने लगती है, आनन्द का आविर्भाव होता और अन्तःस्तल में अत्यधिक शक्ति का आभास होता है। यह सब व्यक्ति के परम सत्य के साथ ऐक्य, सभी शक्तियों का इसके साथ एकीभाव और इसमें सब भेदों एवं विषयत्व के विलय का परिणाम है। इस कार्य के माध्यम से व्यक्ति वैश्व केन्द्र से शक्ति ग्रहण करता है और उसके साथ एकीभूत भी हो जाता है।

जीवन का प्रत्येक कर्म ब्रह्म पर अवधानपूर्ण ध्यान का द्योतक बन जाना चाहिए। जब तक सभी कर्म इसी चेतना पर आधारित नहीं होते, इन कर्मों का कोई आत्यन्तिक मूल्य नहीं हो सकता। ब्रह्म सभी पदार्थों, कर्मों तथा विचारों की प्राणिक सत्ता है। अतः इसके बिना प्रत्येक वस्तु निष्प्राण एवं अर्थहीन हो जाती है। आध्यात्मिकता चैतन्य की एक अवस्था है। यह क्रियाओं का रूप-विशेष ही नहीं है। जब चैतन्य को इस ऐक्य

में अवस्थित रहने को सम्यक् रूप से प्रशिक्षित कर दिया जाता है तो सब कर्म विश्व-प्रक्रिया बन जाते हैं। वे व्यक्ति के क्षणिक लक्ष्य की ओर निर्देशित व्यक्तिगत कर्म नहीं रह जाते। प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म है कि चेतनावस्था में वह स्वयं को ब्रह्माण्ड से मिलाने का यत्न करे और इस ऐक्य के बोध के साथ कर्म करे। ऐसा व्यक्ति महात्मा है, परम भाग्यशाली है। ऐसे पुण्यात्मा की उपस्थिति मात्र ही सम्पूर्ण वातावरण में एक अतीव आकर्षक आध्यात्मिक प्रभाव डालती है। 'यह ब्रह्माण्ड उसका है, वस्तुतः वह ब्रह्माण्ड है'—यह उपनिषद् का कथन है। यही दिव्य जीवन की भव्य परिणति है।

—❁—

योगमय जीवन

सामान्य शिक्षा की प्रक्रिया की भाँति ही योगाभ्यास में पाँच तत्त्वों का अनिवार्य रूप से समावेश है। वे हैं : गुरु, शिष्य, उद्देश्य, विषय तथा विधि। व्यक्ति की शिक्षा में योगाध्ययन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया होने के कारण ये (उपर्युक्त) तत्त्व अथवा घटक व्यक्ति के इन (योग) के अभ्यास के प्रयास में निरपवाद रूप से क्रियाशील होते हैं। अध्ययन के इन सारभूत विषयों में स्पष्टता न होने के कारण ही व्यक्ति की ओर से किये गये महत्त्वपूर्ण उद्यम के क्षेत्र में प्रायः सफलता प्राप्त नहीं होती है। अधिकांश लोग शैक्षणिक मनोविज्ञान की इन सारभूत बातों को विस्मरण कर देते हैं जिससे उन्हें कोई सारवान् उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक गुरु है। वह अध्ययन की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुरु की प्रकृति तथा सुयोग्यता योग-प्रणाली में मूल-भूमिका अदा करते हैं। आज हमें जिस बात की आवश्यकता है, वह है इस विषय के उपयुक्त गुरु की। गुरु या तो शिष्य में रुचि नहीं लेते या उनका ज्ञान अपर्याप्त और शिष्य के प्रसङ्ग में उपयुक्त नहीं होता है। गुरु की

अतिरिक्त शिष्य यदि चिन्तित अथवा उद्विग्न हो तो भी उ
ग्रहण नहीं किया जा सकता है। गुरु और शिष्य दक्षिण
वाम कर की भाँति हैं। ये दोनों सुसङ्गत गति का रूप ध
करते हैं जिससे ज्ञान उद्घाटित होता है। अतः शिष्य
जटिलताओं तथा समस्याओं से अपने को मुक्त करने तथा वि
में अपने हृदय को स्थिर करने के द्वारा ज्ञान को ग्रहण करने
पर्याप्त सक्षम होना चाहिए।

योग का उद्देश्य सदा सुबोधगम्य नहीं है। योग शीर्ष प
अधिगमन की ही नहीं अपितु कार्यालय के काम अथवा व्यवसा
जैसे नगण्य कार्यों के सम्पादन में निष्पन्नता का भाव लाने की भ
प्रक्रिया है। योग जीवन के किसी क्षेत्र में अथवा किसी व्यवसाय
में परिनिष्पन्नता है। योग प्रथमतः बाह्य जगत् के व्यक्तियों
तथा वस्तुओं के साथ और तत्पश्चात् अपनी निजी सत्ता के
शारीरिक, प्राणिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक
संतल में सन्तुलन लाने की एक प्रणाली है। जब व्यक्ति प्रकृति
के साथ मेल साधना सीख जाता है तो यह योग का प्रथम चरण
है। आप अपने को शक्तियों के सन्तुलन के जितना अधिक सन्नि-
कट पहुँचाते हैं, उतना ही आप योग के निकटतर होते जाते हैं।
संसार की प्रतिक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसा आप उसके
साथ व्यवहार करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है जिससे
योग का साधक पूर्णतः अवगत होता है। वह प्रतिक्रिया नहीं
करता, किन्तु बड़े धैर्य के साथ उसे जानता है। जब आप अपने
अन्दर रूपान्तरण लाते हैं तो संसार भी आपके विषय में तदनु-
रूप रूपान्तरित हो जाता है। यह योग में मूलभूत अपेक्षित
ज्ञान है।

अब योग के विषय को लें। योग में आप किसका अध्ययन
ा हैं ? वह कोई ग्रन्थ नहीं है जिसका आपको मात्र अध्ययन
ा है; किन्तु वह तो विषय है जिसके ग्रन्थ मात्र मूर्त्त रूप हैं।
योग के पास क्यों जाते हैं और आप उससे क्या चाहते हैं ?

सम्पूर्ण विषय का सारांश यह है कि योग एकपक्षीय नहीं है।
ा हमें अपने में स्थायी रूप से सन्तुलन-स्थापन द्वारा शाश्वत
ा की प्राप्ति की विधि की शिक्षा देता है; जबकि
ह्य विषय केवल अस्थायी आह्लाद प्रदान करता है। योग
गभङ्गुर पदार्थों से असम्बद्ध एक स्वतन्त्र प्रयास है। योग
पके चतुर्दिक् कोई व्यक्ति अथवा पदार्थ न होने तथा आपके
काकी होने की अवस्था में भी सुख पहुँचाता है। योगी को किसी
दार्थ की कामना नहीं होती; क्योंकि उसका सुख किसी बाह्य
दार्थ पर निर्भर नहीं करता। परम सत्ता के साथ अपना समु-
चत मनोवैज्ञानिक समायोजन योग का महान् उद्देश्य है और जब
सकी उपलब्धि हो जाती है तो समस्त सत्ता के समरूप सचेतन
ुख अपने को अभिव्यक्त करता है। पूर्ण सुख चेतना की पूर्ण
वस्था है और योग के विषय में उन सभी परिहारों तथा समा-
ोजनों का, अपवर्जनों तथा अन्तर्ग्रहणों का वाह्यतः तथा आन्तरतः
मावेश है जो जीवन में उस रहस्यमय, पर साथ ही अपरिहार्य
ूर्णता—विश्वजनीन सामञ्जस्य—के निर्माण के लिए आव-
श्यक है।

वह योगी परम श्रेष्ठ है जो अन्तरात्मा में शाश्वत सत्ता से
सदा युक्त रह कर सबके कल्याण के लिए संसार में कार्य करते
हुए तथा दूसरों का, उनकी श्रद्धा को अस्त-व्यस्त किये बिना, पथ-
प्रदर्शन करते हुए सामान्य व्यक्ति की भाँति रहता है। इसका

तात्पर्य यह है कि विश्व के साथ मैत्रीपूर्ण रहने की सो
तथा उसे अपना शत्रु न मानते हुए, विजय प्राप्त
का प्रयास न करना। यद्यपि सापेक्ष सत्ता जिन लक्ष
अभिव्यक्त करती है, उसमें वह (सत्ता) परम तत्त्व नहीं
उसे परम तत्त्व के समनुरूप होना चाहिए। यह प्रेम द्वारा
(कानून) की आज्ञाओं का परम पालन है। साधक इस आन्त
ज्ञानोदय के साधन के साथ जीवन के किसी व्यवसाय में यो
पथ पर चलने का प्रयास कर सकता है। उस अवस्था में प्र
कार्य सभी प्राणियों में परम सत्ता के दर्शन तथा सेवा करने
आवेग की आवश्यक अभिव्यक्ति बन जाता है। सभी कर्म प्र
पूर्वक भगवान् की आराधना में परिणत हो जाते हैं। यह प्र
जिज्ञासु के हृदय को आप्लावित कर देता है। विश्व की प्रत्ये
श्रेणी, अनुभव का प्रत्येक विषय, चेतना का प्रत्येक प्रकार दि
पूजा तथा अनन्त की लीला बन जाता है। यह रमणीय बात
कि यहाँ व्यक्ति जीवन के प्रत्येक चरण में, यहाँ तक कि सर्वाधि
मूलभूत सोपान पर भी, उस विशेष तल पर प्राप्त शक्ति द्वारा
असीम सत्ता के साथ मेल साधता है। योगमय जीवन वस्तुतः
स्थिर ध्यान, विवेक तथा चिरन्तन सत्ता के लिए प्रबल उत्कण्ठा
का सम्मिश्रण है। योग हमारे लिए जीवन है जिसे किसी भी
व्यक्ति को केवल इस जानकारी के साथ यापन करना होता है कि
वह (जीवन) क्या है और विश्व के साथ उसके वस्तुतः क्या
सम्बन्ध हैं?

सत्संग की पूर्वापेक्षाएँ

अध्यात्मिक जिज्ञासु यह आशा नहीं कर सकता कि उसे अपने पथ पर सहज ही सफलता प्राप्त हो जायगी; क्योंकि इसमें आने वाले विघ्न प्रारम्भिक अवस्था में नहीं प्रकट होते। यद्यपि भूतकाल के पुण्य कर्मों के विपाक के फलस्वरूप अकस्मात् उदित होने वाले उत्साह के कारण ऐसा विश्रम्भ हो सकता है कि मैंने उपयुक्त पथ का चयन कर लिया है तथापि कठिनाइयाँ आती हैं जिन्हें दक्षतापूर्वक दूर करना है। जिज्ञासु की कुछ समस्याएँ एवंविध हैं :

कहाँ बैठें और अभ्यास आरम्भ करें ? जटिल प्रश्नों और सूक्ष्म कठिनाइयों के विषय में किससे परामर्श लें ? साधना में सहायक कौन-सी पुस्तकें पढ़ें ? आध्यात्मिक अभीप्सा तथा प्राणिक-सुविधाओं के लिए अन्तश्चालना में क्या सह-सम्बन्ध होना चाहिए ? रोगग्रस्त होने पर दूसरों पर अधिक निर्भर न रह कर क्या करना चाहिए ? साधना की वे कौन-कौन-सी अवस्थाएँ हैं जिनसे व्यक्ति को गुजरना होता है ? व्यक्ति साधना के किस क्रम-विशेष में है, इसका ज्ञान कैसे हो ? साधना में प्रगति हो रही है अथवा पश्चगति, इसकी जानकारी कैसे हो ? वे कौन-

कौन-से सम्भाव्य प्रलोभन हैं जिनके प्रति साधक को जा
रहना है ? सर्वोपरि, साधना का चरम लक्ष्य क्या है ?

इसके अतिरिक्त साधक के मन पर कल्पना का यह भू
सवार हो कर क्लेशित कर सकता है कि उसने ठोस परि
प्राप्त कर लिया है जबकि उसके आध्यात्मिक लाभ की उपल
वस्तुतः नकारात्मक है। आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को उपयुक्त
सहज ही नहीं प्राप्त हो जाता है। उनके अयुक्त पथ पर
काये जाने तथा अवाञ्छित मण्डलियों में फँसने की सम्भाव
रहती है। चूँकि महापुरुष सामान्य जनता में अपनी घोष
नहीं करते; अतः उनकी पहचान करना अथवा उनकी वि
मानता की जानकारी प्राप्त करना भी कठिन होता है। यदि ऐ
मान लें कि व्यक्ति की किसी महान् सन्त पुरुष से भेंट हो गय
तब भी उससे लाभ उठाना कोई सरल कार्य नहीं है; क्यों
यद्यपि सन्त करुणार्द्र होते हैं; पर उनसे संव्यवहार करना कठि
होता है। व्यक्ति के महीनों अथवा वर्षों पर्यन्त उनके साथ
निरन्तर रहने पर भी प्रत्यक्ष रूप में उसे कुछ उपलब्धि नहीं
होती है। इससे साधक में उनके प्रति अरुचि हो जाती है; क्योंकि
उसमें इतना धैर्य नहीं होता कि वह समय के परिपक्व और परि-
स्थितियों के अनुकूल होने तक प्रतीक्षा कर सके। आध्यात्मिक
लक्ष्य की पूर्ति में कुछ बाधाएँ एवंविध हैं :

अधीरता व्यक्ति को देर तक प्रतीक्षा करने से रोकती है,
अहङ्कार यह भाव उत्पन्न करता है कि शायद सन्त को कुछ भी
ज्ञान नहीं है, कामोद्वेग आध्यात्मिक पथ के सङ्घर्ष-काल में भी
इन्द्रिय-तुष्टि की दिशा में प्रवृत्त करता है, अहन्ता नाम, यश तथा
मान्यता की ओर घसीटती है, लोभ सम्पत्ति, पद और अधिकार

ीछे लगाता है तथा प्रमाद व्यक्ति को तन्द्रा अथवा जड़ता की
र धकेलता है। आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्त्ति में ये कतिपय
भीर बाधाएँ हैं। इसी प्रकार आत्माभिमान आने पर मनुष्य
चता है कि वह सब-कुछ जान गया और अब उसे और
छ जानने को शेष नहीं रहा है। दूसरी ओर, साधक केवल
स्त्रीय ज्ञान तथा साहित्यिक विचक्षणता के व्यर्थ के व्यवसाय
पड़ कर विपथगामी हो सकता है। ये भी विघ्न हैं जिन पर
ाक्ति को विजय प्राप्त करनी होती है।

आध्यात्मिक संस्थाओं के प्राङ्गण में आपके पदनिक्षेप करते
ो वे आपकी बुद्धि में ज्ञान उँडेल देंगी, ऐसी बात नहीं है। वे
ो केवल प्रशिक्षण के क्षेत्र हैं, उनमें तो तभी उपज समृद्ध हो
सकती है यदि उनमें अङ्कुरणीय बीज वपन किये जायें। आध्या-
त्मिक संस्था में प्रवेश के साथ-साथ व्यवहार में विनम्रता तथा
अभीप्सा की अभिवृत्ति भी होनी चाहिए। आध्यात्मिक गुरु के
समीप जाने से पूर्व ही पूर्व-कल्पनाएँ तथा पूर्वाग्रहों का परित्याग
कर देना चाहिए। ऐसी स्थिति में ही सत्सङ्ग अथवा आध्यात्मिक
वातावरण में रहने से कुछ लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

जब व्यक्ति इस मर्त्यलोक में अपनी परिसीमाओं का अनुभव
करता है और इस संसार में जितना ही अधिक वह अपनी लघुता
का अनुभव करता है, आध्यात्मिक क्षेत्र में वह उतना ही अधिक
विशालतर बनता है। सत्य के क्षेत्र की प्रत्येक उपलब्धि में
इन्द्रिय तथा अहं की दृष्टि से क्षति सन्निहित रहती है। अतः
जिज्ञासु को अतीव जागरूक होना चाहिए। जीवन में निद्रा के
लिए उसके पास समय नहीं होता। निष्कपटता, दृढ़ता एवं
विनम्रता जिज्ञासु के सङ्केत-शब्द हैं।

गुरु की आवश्यकता

सफल आध्यात्मिक जीवन-यापन तभी सम्भव हो सकत है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को तथा अप समूचे व्यक्तित्व को विश्व के सङ्घटकों को आकार देने वाले अन्य पदार्थों के साथ सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से समायोजित तथा अनुकूलित कर सकने में सक्षम हो। इस अर्थ में, जीवन एक कला है। एक कलाकार क्या करता है ? उसके पास निष्पादन तथा प्राप्त करने हेतु एक उद्देश्य की स्पष्ट कल्पना होती है। वह इस उद्देश्य के साधन के रूप में आवश्यक सामग्री एकत्र करता तथा उसे विधिवत् तथा सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से यथाक्रम रखता है। वह अपेक्षित वस्तु का सम्यक् चयन करता, उसमें जो कुरूपता है उसका निवारण करता, जो आवश्यक है उसे संयोजित करता तथा अपनी कृति में दृष्टिगत उद्देश्य की प्रकृति के अनुरूप संहति तथा पूर्णता निष्पादित करता है। सभी महान् कलाकृतियों में—चाहे वह वास्तुकला हो या मूर्त्तिकला, चित्रकारी हो या रेखाचित्र, सङ्गीत हो या साहित्य - यही स्थिति है। कला का सार है सामग्री का इस प्रकार यथाक्रम रखना जो सुसङ्गति, संमिति, क्रम, पूर्णता तथा मानव-मन की कल्पना की पहुँच तक परिनिष्पन्नता का भाव उत्पन्न करे। हमें अपने जीवनादर्श को वहिर्वर्ती प्रकृति की

तयों तथा अन्तर्वर्ती आवेगों के साथ इस प्रकार व्यवस्थित
ा है जिससे उसमें कोई ऐसा कर्कश तत्त्व अथवा असङ्गत
न रहे जो हमारे व्यक्तिगत जीवन तथा समाज, समुदाय,
; और विश्व के जीवन में प्रतिबिम्बित होने वाले ब्रह्माण्ड के
। साम्य की अनुभूति में अनुपयुक्त हो।

जैसे हम आत्मा से प्रेम करके व्यक्ति से घृणा नहीं कर सकते,
ही हम ईश्वर से प्रेम करके विश्व से घृणा नहीं कर सकते।
आप लोगों को देखते हैं तो आपका विचार कैसा है ? यही
पको बतलायेगा कि आप क्या हैं और यह भी कि क्या आप
धना के योग्य हैं। कोई अरुचि, कोई घृणा नहीं होनी चाहिए।
वाञ्छित परिस्थिति के प्रति हमारी अभिवृत्ति विवेक की, न
ः प्रतिक्रिया की होनी चाहिए। प्रतिक्रिया आवेग के कारण
ती है, तर्क के कारण नहीं। जब आप परिस्थिति के सम्मुख
ते हैं तो आपको परिस्थिति को समझने का प्रयास करना
ाहिए। आपको क्या करना चाहिए ? आपको सोचना चाहिए :
ादि मैं एक विशेष पग उठाऊँ तो मेरे साथ क्या घटित होगा ?
ह मेरे आध्यात्मिक जीवन को क्योंकर प्रभावित करेगा ?'
योंकि हमारा लक्ष्य शत-प्रतिशत आध्यात्मिक बनने के अतिरिक्त
ान्य कुछ नहीं है। आध्यात्मिक होने का अर्थ है सत्य के साथ
कस्वर होना। आध्यात्मिकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफल
ीवन-यापन का विज्ञान है।

साधना और साध्य दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। उनमें
घनिष्ठ अन्तःसम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे की प्राप्ति नहीं
हो सकती। लक्ष्य के विदित होने पर ही साधना के स्वरूप का
निर्धारण किया जा सकता है। यह जानते हुए कि हमें भावना-
मय नहीं होना चाहिए, हम भावनामय हो जाते हैं और हम ही

क्यों प्रगत लोग भी भावनामय हो जाते हैं। इसके कारण
हम अयतार्थ पग उठाते हैं। इसके परिहार के लिए हमें गुरु की,
इन प्रक्रमों से हो कर गुजर चुका है तथा जो मानवीय प्रकृति
दिव्य प्रकृति से परिचित है, सहायता लेने का परामर्श दि
जाता है। गुरु तथा ईश्वर अभिन्न हैं। परम सत्ता किसी उद्दे
विशेष के लिए अपने को जिन प्रावस्थाओं में अभिव्यक्त कर
हैं, गुरु उनमें से एक है। जैसा कि श्लोक है :

"ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्त्तिभेदविभागिने······।"

—ईश्वर, गुरु तथा आत्मा एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति के
तीन रूप हैं। इन उपाधियों से ही वह सत्ता किसी निर्दिष्ट समय
में अपने को प्रकट करती है। यही कारण है कि हम उसे ईश्वर, गुरु
तथा आत्मा जैसे विविध नामों से पुकारते हैं। जब वह एक कार्य
करती है तो हम उसे ईश्वर, दूसरे में गुरु और तीसरे में आत्मा
कहते हैं। अतः ये तीनों मूर्त्तियाँ एक ही सत्ता के रूप हैं। वह
आनन्दमय तथा कल्याणकारी सत्ता तत्त्वतः न तो ईश्वर है, न गुरु
और न आत्मा ही। ये उस शाश्वत सत्ता के कार्यात्मिक रूप हैं।
स्वयं भगवान् गुरु के रूप में प्रकट होता है। ध्यान के लिए गुरु को
पूर्ण सत्ता मानना चाहिए। गुरु इस संसार में समस्त आध्यात्मिक
शक्तियों का केन्द्र है। अतः जब आप गुरु के सम्पर्क में आते
हैं तो आपके अन्दर धारा प्रवेश करती है। यही शक्तिपात है।
शास्त्र का कथन है कि यदि आप इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं तो
आपका फिर कभी भी इस लोक में आगमन नहीं होता —"न इह
पुनरावर्तते।" यह वैसे ही है जैसे स्वप्न से सदा के लिए जग
गये हों। जिज्ञासु के रूप में हमारी बुद्धिमत्ता इसमें है कि हम
स्व-उद्देश्य के प्रति सत्यशील रह कर ब्रह्मविद्या के गुरुओं का
सच्चाईपूर्वक अनुसरण करें।

जप एवं प्रार्थना की महिमा

आध्यात्मिक साधक के रूप में आपमें से अनेक व्यक्ति जप
ात् भगवन्नाम का बारम्बार उच्चारण कर रहे होंगे। दीक्षा
ासय आपसे कहा गया होगा कि आपको जप अर्थात् भगवन्नाम
उच्चारण करना चाहिए। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—मन्त्र-
के साथ-साथ उसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। महर्षि
ञ्जलि के अनुसार जप वस्तुतः भगवन्नाम का यान्त्रिक उच्चा-
मात्र नहीं है। यद्यपि पाठ भी जप है तथापि यह 'तदर्थ-
वनम्' अर्थात् मन्त्र के अर्थ का चिन्तन है। उदाहरणार्थ—
नमो भगवते वासुदेवाय' एक मन्त्र है। इसका पाठ जप है।
बाह्य (वैखरी) एवं आन्तरिक (मानसिक) होता है। जप
त्र का पुनः-पुनः उच्चारण है और मन्त्र अक्षरों अथवा शब्दों
वह रहस्यपूर्ण समूह है जो परस्पर ऐसे सम्बद्ध होते हैं कि
ब मन्त्रोच्चारण किया जाता है तो उससे सम्पूर्ण कायव्यूह में
क विशेष संवेदना अथवा कम्पन उत्पन्न होता है। मन्त्र और
ाधारण शब्द, वाक्य अथवा शब्द-समूह में यही भेद है। मन्त्र
किसी ऋषि की पराहृष्टि का फल होता है और भाषाजगत् में
ाह उस देवता की मूर्त्त अभिव्यक्ति है जिसे मन्त्र में प्रकटित
िया गया है। जब व्यवस्थित तथा शुद्ध रूप से उचित स्वर में

मन्त्रोच्चारण किया जाता है तब स्नायु-मण्डल में तत्काल ही कु
ऐसा कम्पन होता है कि समस्त संसार में ऐक्य-भाव स्थापित ह
जाता है। विभिन्न मन्त्र पृथक्-पृथक् कम्पन पैदा करते तथ
विभिन्न देवताओं का आह्वान करते हैं। 'ॐ नमो भगवत
वासुदेवाय' भगवान् कृष्ण का मन्त्र है। इसका मूलार्थ है—'ॐ
भगवान् वासुदेव को नमस्कार।' इसमें श्री वासुदेव को
आत्म-समर्पण का भाव गर्भित है। वन्दना, नमस्कार
आन्तरिक मिलन का बाह्य लक्षण है। जब हम मन्दिर में
किसी देवता को, किसी मित्र अथवा व्यक्ति को नमस्कार करते
हैं, तो हम दोनों हथेलियाँ जोड़ लेते हैं और नत मस्तक होते हैं।
यह नमस्कार और करबद्धता एक के दूसरे के साथ ऐक्य-भाव
की सूचक है। 'मैं और आप एक हैं'—यही नमस्कार है।
'भगवान् मैं तुम्हारे साथ एक हूँ'—यह आत्म-समर्पण का भाव है
और यहीं भगवान् वासुदेव पर ध्यान प्रारम्भ होता है। जब मन्त्रो-
च्चारण किया जाता है तो उस समय आप भगवान् वासुदेव का
चिन्तन करने, ध्यान आरम्भ करने एवं उनकी विद्यमानता
अनुभव करने के लिए अपने मन में आवश्यक वातावरण भी
सृजन करते हैं। यही नियम अन्य सभी मन्त्रों पर भी लागू
होता है।

मन्त्र-जप एवं प्रार्थना में थोड़ा अन्तर है। अपनी रुचि के
अनुसार किसी भी विधि से, किसी भी भाषा में अपने भावों को
अभिव्यक्त करना प्रार्थना है जबकि मन्त्र-जप शब्दों अथवा सूत्रों
को सदा एक ही नियत रूप से उच्चारण करना है। वैसे तो
प्रार्थना मूलतः प्रभु से उनकी कृपा-हेतु निवेदन है, पर अपने
सामान्य रूप में यह भौतिक पदार्थों की प्राप्ति, रोग से मुक्ति
आदि जैसे अन्य प्रच्छन्न उद्देश्यों की ओर निर्देशित हो सकती है,

न्तु प्रार्थना का सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप वह है जिसमें प्रभु
कुछ याचना न की जाय। उसमें केवल ईश्वर की याचना
ती है। प्रार्थना शब्दों, सूत्रों अथवा वाक्यों में अभिव्यक्त की
सकती है; क्योंकि प्रार्थना मानसिक भी हो सकती है जिसमें
क्त मन की गहन एकाग्रता तथा प्रेम और पूजा में प्रभु से
ायुज्यता की भावना द्वारा अपने अन्तःकरण में उनकी कृपा की
ाचना करता है। धर्मशास्त्र मन्दिरों में प्रतिष्ठित विविध
ेवताओं को और प्रायः परम सत्ता को सम्बोधित विविध
ार्थनाओं से भरे पड़े हैं। सामान्यतः इष्टदेव को ही सर्वोच्च
व मान कर उसे परम ब्रह्म के उत्कृष्ट पद पर प्रतिष्ठित किया
ाता है जिससे कि भक्त के मन में अपने इष्टदेव के अतिरिक्त
ान्य कोई भी विचार न आये। यह तथ्य इस सत्य का सूचक है
के अन्ततः परमात्मा एक ही है तथा पूजा में आराधित ये सभी
ेवता उसके ही रूप हैं। गम्भीर भाव के क्षणों में अपनी सत्ता
के साथ एक स्वर होने से प्रार्थना भगवत्कृपा को आकर्षित कर
सकती है। भावना ही प्रार्थना के पीछे प्रेरक शक्ति का कार्य
करती है। व्यक्ति के हृदय के अन्तर्तम प्रकोष्ठ से उदित भावों
का परिणाम तत्काल होता है; क्योंकि वे परम सत्य के अति
समीप होते हैं। जप तथा प्रार्थना पूजा एवं यज्ञ के सर्वोत्तम रूप
माने जाते हैं; क्योंकि वे वाह्य विषयों अथवा वातावरण पर
निर्भर नहीं होते। इस विशेष शास्त्रोक्त विधि का उद्देश्य है
इष्टदेव के अनुरूप उन्नत होना जो कि मन्त्र-जप द्वारा अपनी
सत्ता के साथ एक स्वर हो कर अथवा प्रार्थना द्वारा आत्म-
समर्पण से साधा जा सकता है।

भगवान्-सम्बन्धी विचार अग्नि के सदृश्य है जो सभी
इच्छाओं को भस्मीभूत कर देता है। परम ज्ञान भगवान् की

सर्वत्र उपस्थिति के गम्भीर भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वही सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमत्ता है। यह अन्य लौकिक कामनाओं को प्राणान्तक आघात पहुँचाता है। ईश्वर-प्राप्ति की अभीप्सा अन्य सभी कामनाओं को नष्ट करने की आकांक्षा है। यह वह कामना नहीं है जिसे सामान्य भाषा में कामना कहते हैं। माचि की एक ही तीली जैसे घास के बहुत बड़े ढेर को भस्मसात क डालती है, उसी भाँति ईश्वर की सर्वव्यापकता, उसकी अन्त व्यापकता तथा ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता-सम्बन्धी एक ही विचा सभी लौकिक इच्छाओं को जला देने के लिए पर्याप्त है; क्योंवि ईश्वर हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति है और जब हम उसकी विद्य मानता का अनुभव करने लगते हैं, तब हममें अन्य कोई इच्छ शेष नहीं रह जाती। क्षणभर के लिए ईश्वर का सच्चा, अकृत्रिम गहन ध्यान अश्वमेध-यज्ञ, अग्निष्टोम, राजसूय-यज्ञ आदि अनेक अनुष्ठानों के समान है। यह सर्वोच्च यज्ञ एवं परम सत्य है। वास्तव में, जप एवं प्रार्थना के द्वारा आपको सदा ध्यानमग्न हो जाना चाहिए जो सभी आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य है।

—⁂—
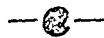
स्वाध्याय के उद्देश्य

स्वाध्याय आत्मा का आहार है। जैसे शरीर के लिए आहार आवश्यक है, वैसे ही आत्मा के लिए भी स्वाध्याय आवश्यक है। आप केवल शरीर ही नही हैं, वरञ्च उससे कुछ अधिक भी हैं। आप शारीरिक यातना सहन कर सकते हैं, किन्तु मानसिक व्यथा सहन करना बहुत ही कठिन है। आपकी मानसिक व्यथाओं का तथा शारीरिक रोगों का भी कारण कुछ अन्य ही है, पर इसकी जानकारी आपको नहीं है। कोई भी व्यक्ति अथवा परिस्थिति हमारे कष्टों का कारण नहीं है और उनके उपचार करने का प्रयास शाखाएँ काटने के समान ही है जो पुनः अङ्कुरित हो उठेंगी; क्योंकि कारण (मूल) तो अस्पृष्ट ही छूट जाता है। किसी अन्य को दोषी मानना तथा स्वयं को ठीक सोचना स्वस्थ अभिवृत्ति नहीं है। इसकी कोई सुरक्षा नहीं है कि आप सदा ठीक ही हों। किसी भी धर्मग्रन्थ ने, किसी भी सन्त ने ऐसा नहीं कहा है। यह अहङ्कार के कारण है। योगवासिष्ठ का कथन है कि समस्त सृष्टि अहङ्कार के कारण है। आप अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और तब जगत् को देखते हैं। अहङ्कार की स्वीकृति ही कारण है। वह क्या वस्तु है जो आपको बन्धन में डालती है अथवा संसार क्या है? क्या वह सरिता, संतान

अथवा दूरभाष है ? आपने इस पर सम्यक् रूप से विचार न किया है। इन पदार्थों में उलझना ही संसार है न कि भौति जगत्। इस तन्तु-जाल की रचना आपने ही की है। कार भगवान् की सुन्दर सृष्टि में निहित नहीं है, वरञ्च वह इ अहङ्कार नामक तत्त्व का परिणाम अथवा उसकी पार्श्वशाखा है शारीरिक रोग भी अन्ततः अहङ्कार के कारण ही होता है। ह भगवान् की उस अद्भुत सृष्टि में प्रसन्न होने के स्थान में उस खिन्न होते हैं। हमारा दृष्टिकोण सङ्कीर्ण है। हम अपने दृष्टिको से घोड़ों की भाँति बँधे हुए हैं जिससे हम केवल एक ही पहलू-हमारे अहङ्कार को मनोहर लगने वाला पहलू ही—देख पा हैं। हम उन दो कृषकों की भाँति हैं जो जल को केवल अपने ह कृषिक्षेत्र में प्रवाहित करना चाहते थे। अपने-अपने क्षेत्र जल के प्रवाह को ले कर उन दोनों में झगड़ा हो गया। वे निरक्ष थे। उन्होंने न्यायालय के समक्ष अभियोग प्रस्तुत किया न्यायाधीश ने उन्हें बुलाया और कहा : "जो-कुछ मैं कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो। क्या तुम ध्यानपूर्वक सुनोगे और तदनुसा कार्य करोगे ?" उन कृषकों ने कहा : "जी श्रीमान् ! हम आपके कथनानुसार ही कार्य करेंगे; किन्तु जल तो हमारे कृषिक्षेत्र मे बहना ही चाहिए।" हमारी स्थिति भी वैसी ही है। यह सब पदार्थों से प्राप्त होने वाली संवेदना के कारण ही है। इसे आनन्द भी नहीं कह सकते। यह केवल संवेदना है, शरीर के एक अङ्ग-विशेष की गुदगुदाहट है। अज्ञानतापूर्वक किया गया कर्म हम पर प्रत्याघात करता है। यही संसार है। इस संसार के अयथार्थ ज्ञानजनित प्रत्येक कर्म प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। यह संसार एक विधान—भागवत विधान द्वारा उत्पन्न शक्ति के चुम्बकीय क्षेत्र की भाँति है। हम इसके विधानों को जाने बिना ही उन पर चल रहे हैं; इसी से हमें ठोकरें तथा धक्के लगते हैं।

चित रीति से प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। यही कारण स्वाध्याय को सम्यक् विचार के प्रारम्भण के रूप में निर्धा- किया गया है।

एक परिवेदना (शिकायत) यह भी है कि जीवन बहुत ही हो चला है जिससे दर्शन तथा धर्म का अध्ययन करने का ही नहीं मिल पाता; किन्तु दर्शन तथा धर्म कोई कार्य-कलाप ा ग्रन्थों का स्वाध्याय मात्र नहीं है जिसके लिए समय की श्यकता हो। वे करणीय कार्य नहीं हैं; किन्तु सम्यक् विचार कात्मक हैं जिसके लिए किसी एक समय-विशेष की वैसे ही श्यकता नहीं होती जैसे कि व्यक्ति को अपने अस्तित्व के ए समय की आवश्यकता नहीं होती। किसी कार्य को करने लिए भले ही समय की आवश्यकता पड़े; किन्तु सम्यक् रूप से ार करने के प्रयास के सम्बन्ध में समयाभाव का प्रश्न नहीं ता। यह तो स्वास्थ्य-संरक्षण की भाँति है जो कि एक कांक्षणीय स्वाभाविक अवस्था है, न कि सम्पादनार्थ अथवा ष्पादनार्थ कर्म।

सभी सन्तों ने एक ही सत्य पर बल दिया है। भले ही नकी व्याख्या की भापा भिन्न-भिन्न रही तथा उनके बलाधान में ी अन्तर रहा; किन्तु उनका जोर, उनकी जीवनकालीन परि- स्थिति के अनुकूल सत्य के एक अथवा एकाधिक पहलुओं पर ा। अतः इससे ऐसा नहीं प्रतीत होना चाहिए कि मानो धर्म एक-दूसरे से सर्वथा अलग-थलग हैं तथा उनमें कोई सामान्य तत्त्व है ही नहीं; क्योंकि ऐसा सोचना धर्म के याथार्थ्य की दिशा में उपगमन के उपहास का विपय ही होगा। यदि धर्म पूर्णता का मार्ग है तो ऊपरी सतह पर सामान्यतः दृष्टिगोचर होने वाली धार्मिक कट्टरता अर्थहीन हो जाती है।

स्वाध्याय व्यक्ति को उदार मनस्, दानशील तथा दिव्य बनाता है। दर्शन धर्म का तार्किक आधार है। विवेकयुक्त होना दुराग्रही बनना नहीं; किन्तु सहानुभूतिमय तथा सहनशील बनना है। सहिष्णुता सच्चे धर्म का लक्षण है। जैसे यह सत्य होते हुए भी कि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता है, पर सारे संसार के लिए एक ही प्रकार का आहार नहीं हो सकता, वैसे ही यद्यपि समस्त धर्मों का सार तथा उनके अन्तर्गत विषय-वस्तु एक ही है तथापि धर्मों के बाह्य रूप के अनुसार समस्त संसार के लिए एक ही धर्म होना असम्भव है। धर्म किन्हीं रीतियों के अभ्यास का उतना विषय नहीं है जितना कि उसके सारतत्त्व को जीवन में चरितार्थ करने का है। जब स्वाध्याय द्वारा इसकी उपलब्धि हो जाती है तो सच्ची संस्कृति प्रकट होती है।

धर्मग्रन्थों में वर्त्तमान ऐतिहासिक प्रवृत्ति और अधिक अध्ययन तथा शोध की सामग्री प्रदान करती है और इसे भारतीय धर्मग्रन्थों में गुप्त समृद्ध कोष तथा आचार्यों को दिशा का निर्देशक समझा जा सकता है। इनका गाम्भीर्य साधकों से महान् धैर्य तथा दृढ़ आकांक्षा की माँग करता है।

अध्ययनीय पूर्वतम प्रलेखों में वेद-संहिताएँ तथा उनकी चरम परिणति रूप उपनिषद् हैं। ये भारतवासियों की भव्य पैतृक सम्पत्ति के सङ्घटक हैं। महाकाव्य तथा पुराण भावनोत्तेजक तथा अवबोधोन्नयनकारी शैली में उनके विषयों की व्याख्या के रूप में उनका अनुसरण करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता इस कोटि के साहित्य का अद्वितीय आदर्श है। योगवासिष्ठ उपनिषदों में अभिलिखित अनुभूति के चरम शिखरों पर निर्मित रहस्यमय प्रासाद के सदृश है। धर्म तथा शीलाचार अज्ञात के तेजोमय

लोक में ऊँची उड़ानें भरने के लिए प्रयत्नशील मानव में वर्त्तमान आत्मा के पङ्खों के समान हैं। नियमित स्वाध्याय द्वारा भारतीय विचार जहाँ तक पहुँच सका है अथवा जहाँ तक मानव-मन पहुँचने की आशा कर सकता है, यह उसका शिरो-विन्दु है।

भगवद्गीता का भावार्थ

महाभारत का प्रमुख दार्शनिक विषय प्रख्यात ग्रन्थ भगवद्‌-गीता में निहित है। श्रीकृष्ण मानवता के लिए रिक्थ पत्र के रूप में जो उपदेश छोड़ गये हैं, वह न तो कोई मत है, न कोई धर्म है और न किसी धर्मानुयायी अथवा समुदाय का कोई गुह्य पन्थ ही है। यह इहलौकिक व्यावहारिक प्रवृत्तियों से असम्बद्ध किसी दूरस्थ पारलौकिक जीवन से ही नहीं अपितु अनुभूति के समस्त परिक्षेत्र से सम्बन्ध रखता तथा सुव्यवस्थित अनुशासन का नियम निर्धारित करता है। गीता की महत्ता उसके उपगमन की पूर्णता, उसके उपदेश की सार्वभौमिकता तथा उसकी विषय-वस्तु की सर्वव्यापकता में है। एक पूर्ण पुरुष पूर्ण जीवन का पूर्ण विज्ञान प्रदान करता है। मानव तथा परमात्मा के इस संवाद में उनके परस्पर के गूढ़ सम्बन्ध की पहेली सुलझ जाती है तथा मानव की गौरवमयी नियति उसके नेत्रों के समक्ष उद्‌घाटित हो उठती है।

गीता इस तथ्य को अनावृत करती है कि मानव जिन दुःखों में अपने को घिरा हुआ पाता है, उनका प्राथमिक कारण उसका वह भ्रान्तिमूलक विचार है जो उसने अपने तथा अपने शरीर

र संसार एवं अन्ततः भगवान् के मध्य वर्तमान सम्बन्ध के
षय में बना रखा है। मनुष्य यह सोच कर कि जिस शरीर
था जिन पदार्थों के मध्य उसे स्थान प्राप्त है, उसका स्थायी
ल्य है तथा आत्मा उन पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों में परि-
ष्ठित एक परतन्त्र वस्तु है जो उसे धारण करने वाले-से प्रतीत
ोते हैं—शरीर के विनाशशील स्वरूप को, संसार के परिवर्तन-
ील धर्म को तथा चेतना के अमर तत्त्व को विस्मरण कर देता
है तथा इस सत्य के विपरीत विचारों से आसक्त हो जाता है।
जीवात्मा वस्तुतः जिस शान्ति की खोज में है, सांसारिक पदार्थों से
राग उनके मूल पर प्रहार करता है; क्योंकि संसार के ये प्रेम
अज्ञानजन्य मिथ्या मूल्याङ्कन हैं। अनुभव की सत्यता तथा मिथ्या-
त्व में भेद करने के लिए बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए। मानव
में वर्तमान तर्क शक्ति प्रायः इन्द्रियों के सहयोग से कार्य करती
हुई दृष्टिगोचर होती है तथा वह देश, काल तथा बाह्यता के
परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियों द्वारा की गयी विषयों के गुणों की व्याख्या
को आत्मा तक पारेषित करने तथा अनुभव की देह-भावना में
अवनत करने के कार्य में उनका (इन्द्रियों का) उपकरण बनती
है। इस प्रकार किया गया सभी निर्णय भ्रान्तिमूलक होता है;
क्योंकि यह विषयता का अतिक्रमण करने वाली उस सत्ता के
अस्तित्व पर ध्यान नहीं देता जो सबको एक सूत्र में ग्रथित
किये हुए है। बुद्धि मानव की तर्क-शक्ति के सहायतार्थ उस समय
आती है जब पश्चादुक्त इन्द्रियों की पाद-शृङ्खला से मुक्ति द्वारा
निर्मल हो जाती है। श्रीकृष्ण ने जिस योग की शिक्षा दी है, वह
भगवान् के निरपेक्ष होने के ज्ञान पर आधारित सहज कर्म,
भगवान् को आत्मसमर्पण अथवा भगवान् पर निश्चल ध्यान है।

प्रयास चाहे किसी भी प्रकार का हो, सबमें तीन प्रक्रमों का

समावेश होता है : सिद्धान्त, अभ्यास तथा उपलब्धि। उपनिषद् तथा गीता ज्ञान के इन तीनों प्रक्रमों पर क्रमबद्ध निबन्ध हैं। इनमें पश्चादुक्त (गीता) को इस योजना के अन्तर्गत विशेषकर सत्य का विज्ञान (ब्रह्मविद्या), आत्मानुशासन तथा ध्यान का अभ्यास (योगशास्त्र) तथा व्यष्टि और अनित्य का सार्वभौम और नित्य के साथ योग (कृष्णार्जुन-संवाद) के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। सत्य के जिज्ञासु को उतावला नहीं होना चाहिए। उसे सर्वप्रथम उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने विचारों की कल्पना करनी होगी तथा उन्हें व्यवस्थित करना होगा जिन पर प्रयत्नों का निर्माण किया जाना है। द्वितीयतः, उसे अपनी निजी सत्ता तथा प्रवृत्ति के प्रमुख घटकों के रूप में इन क्रमबद्ध सिद्धान्तों को अपने निजी वैयक्तिक जीवन में स्थापित करना है जिससे वह इसके द्वारा अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन को पूर्व चिन्तित तथा चेतना में प्रष्ठापित मूलभूत सिद्धान्तों के मूर्त्तरूप में रूपान्तरित कर सके। तृतीयतः, प्रयास के फलित होने में चाहे कितना ही समय क्यों न लगे, उसे अनुगामी परिणाम की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। तथापि, इस बात की सावधानी बरतनी होगी कि अभ्यास (साधना) निर्दोष, निरपेक्ष तथा लक्ष्य से असम्बद्ध दूरस्थ उद्देश्यों से मुक्त हो तथा व्यावहारिक प्रक्रिया के अधोवर्ती सिद्धान्तों को वस्तुतः उसकी सत्ता से सम्पृक्त हो जाना चाहिए। इन प्रतिबन्धों के पूरा होने पर, लक्ष्य की प्राप्ति वृक्ष में शनैः-शनैः वार्द्धक्य को प्राप्त फल के परिपक्व होने की भाँति ही सुनिश्चित है।

जब ज्ञान तथा धर्म संकेन्द्रिय शक्ति की एक धारा में मिल जाते हैं, जब श्रीकृष्ण तथा अर्जुन एक रथ में आरूढ़ हो सङ्घटित रूप से उसका सञ्चालन करते हैं, वहाँ पर वैभव, विजय, सुख तथा स्थिर सुशासन का निवास होता है।

रामायण का सार

श्री राम का यशस्वी इतिवृत्त ही वाल्मीकि के महाकाव्य का विषय है। वाल्मीकि की आदर्श अलङ्कारमयी शैली में लिखित रामायण आद्योपान्त पाठक के हृदय को मृदुल झकझोर तथा भावनाओं को रूपान्तरण का मौन स्पर्श दे कर अज्ञात रूप से अथवा उच्च स्वर से घोषणा किये बिना ही मानव-मन को सहृदयता, भ्रातृभाव, पुत्रोचित स्नेह, बन्धुत्व-भावना, नियमानु-वर्त्तन, उपकारिता, सच्चाई, सङ्कल्प की दृढ़ता तथा अटल सत्यनिष्ठा से युक्त असीम लघुता की आदर्श परिस्थिति का अपेक्षित नव-जीवन लाती है। वाल्मीकि की यह महाकृति भारत के अमर कवियों कालिदास, तुलसीदास, कम्बन तथा गद्य-पद्य के अनेक लेखकों की बहुत-सी प्रेरणाप्रद काव्यधाराओं का जलाशय बन गयी। उन लोगों ने इस महाकाव्य के रचयिता के अक्षय निर्झर से प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रशस्त रामायण ने ही भारतवर्ष के नागरिकों के हृदयों को एक ही साकल्य में संश्लेषित कर दिया है और यदि आज भारत बाहर की धमकी देने वाली शक्ति का निर्भीकता से सामना करने के लिए एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर आया है तो इसका कारण वह साहस तथा

नैतिक दृढ़ता है जिसे वाल्मीकि, कालिदास तथा कम्बन के उच्च मानस ने राष्ट्र के रुधिर में भर रखा है।

वाल्मीकि ने अपने भव्य काव्य में दशरथ-पुत्र राम का वर्णन बल, आत्म-संयम, धैर्य, विवेक, अभिव्यञ्जना-शक्ति तथा अत्युत्कृष्ट व्यवहार के आकर तथा प्राणीमात्र के रक्षक, धर्मोद्धारक, सभी शास्त्रों तथा कलाओं में पारङ्गत, सागर के समान गम्भीर, हिमालय के समान वैभवशाली, क्रोध के समय विश्व-विनाशकारी अग्नि तथा क्षमाशीलता में साक्षात् भूमि के रूप में किया है। श्रीराम सद्गुणों की पूर्णता के मूर्त्तरूप तथा साधुता के प्रत्येक कल्पनीय गुण के आदर्श थे। श्री राम का चित्राङ्कन उन्नत वक्षस्थल, लम्बी भुजाओं, गोलाकार शिर, मनोहर मस्तक, सुडौल अङ्ग, आकर्षक रूप, विशाल नेत्रों तथा अतीव सौन्दर्य वाले व्यक्ति के रूप में किया गया है। उनका धनुष कोदण्ड है। उनके बाणों की अमोघता 'राम-बाण' के रूप में लोक प्रसिद्ध है। राजा दशरथ की सबसे छोटी रानी के उकसाने पर राम के राज्याभिषेक की सब व्यवस्था विफल हो गयी तथा इस रानी को दिये हुए पिता के वचन को पूरा करने के लिए राम ने एक सुपुत्र की भाँति वन को प्रस्थान किया। उनके भ्राता लक्ष्मण तथा भार्या सीता ने उनका अनुगमन किया। वन में ही ऋषियों के शान्त जीवन को त्रास पहुँचाने वाले राक्षसों से राम की मुठभेड़ हुई। रावण इनका प्रधान था। राक्षसों के सामूहिक रूप से युद्ध का कारण था रावण के बन्दीगृह से सीता की पुनर्प्राप्ति। जब सीता एकाकी थीं, तब वह चुपके से वन से उनको उठा ले जाने में सफल हो गया था। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर श्री राम ने वानरराज सुग्रीव से मैत्री की जो अपने भ्राता बाली के हाथों पराजित होने के कारण वैसी ही दुर्दशा में पड़ा था। राम ने बाली का वध

रने में सुग्रीव की सहायता इस शर्त पर की थी कि वह ओर
ई सीता की खोज के लिए आवश्यक प्रबन्ध करेगा। रामाय
महान् नायक सुग्रीव के मन्त्री हनुमान् थे। इस क्रम
ो राम के पश्चात् इनका ही स्थान है। हनुमान् का शौर्य घ
र की जनोक्ति बन गया है। छलाँग लगा कर सागर को प
ार रावण की राजधानी लङ्का में जाने तथा अपने को भीमक
रूप में विस्तृत करने के उनके साहसिक कार्य का वाल्मीकि
ालित काव्य में उत्कृष्ट रूप में वर्णन किया गया है जो रोमाञ्
कारी है। लङ्का में उनके वीरोचित कार्यों, निर्भीक रावण को
आतङ्कित कर देने वाले उनके पराक्रम तथा उनकी निस्स्वार्थ
सेवा-भाव, आत्म-संयम तथा बुद्धिमत्ता ने हनुमान् को भारत
अमर सपूत बना दिया है।

श्री राम के हाथों रावण के मारे जाने पर जब रावण
साथ युद्ध समाप्त हो गया तथा सीता पुनः प्राप्त हो गयी तो
राम अयोध्या वापस आ गये जहाँ उनका राज्याभिषेक हुआ। र
का आदर्श शासन 'रामराज्य' कहलाता है। वाल्मीकि कहते हैं
राम के शासन-काल में विधवाएँ नहीं थीं, वन्य पशुओं का
न था, रोग नहीं थे दुष्टों के कारण चिन्ता नहीं थी, किसी प्रक
की कोई दैवी विपत्ति नहीं थी, बाल-मृत्यु नहीं होती थी तथा स
सुखी थे; क्योंकि भूलोक में धर्म का शासन था। लोगों में
स्पर वैर नहीं था तथा सभी लोग शोक-सन्ताप से मुक्त थे। र
सर्वत्र राम की महिमा की ही चर्चा करते थे। राम के राज्यक
में सारे देश में उनका ही नाम छाया हुआ था। विष्णु के र
रूप में अवतार-ग्रहण का उद्देश्य मानव-जाति के समक्ष एक आ
पूर्णता का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना था जिस तक व्य
संसार में सामाजिक जीवन यापन करते हुए भी नैतिक, बौद्
भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से पहुँच सके।

श्रीमद्भागवतपुराण से शिक्षा

श्रीमद्भागवत समस्त पुराणों में सर्वाधिक दार्शनिक है। इसके काव्य तथा सामान्य साहित्य के रूप के निष्पादन का लालित्य सर्वोत्कृष्ट कोटि का है। इस पुराण में साङ्ख्य तथा वेदान्त की विचार-पद्धति के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, विष्णु के दशावतार-सहित बाईस अथवा चौबीस विविध अवतारों; देवों तथा असुरों के, ऋषियों तथा राजाओं के प्रजापति से उद्भूत आद्य प्रजनयिताओं की क्रमिक वंशावलियों; ध्रुव, ऋषभदेव, जड़भरत, अजामिल, प्रह्लाद, गजेन्द्र, अम्बरीष, सुदामा आदि महान् भदवद्भक्तों की जीवन-गाथाओं; साङ्ख्य, योग तथा वेदान्त का, विशेषकर कपिल द्वारा देवहूति को तथा श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को दिये हुए तत्त्वज्ञानों; ज्योतिष तथा भूगोल; वर्णाश्रम-धर्म, कल्प, चतुर्युग तथा चतुर्विध प्रलयों का विशेष रूप से निरूपण है। किन्तु भागवत के जिस स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, वह सर्वाधिक आकर्षक तथा मनोरम है।

श्रीकृष्ण जो विष्णु भगवान् के अथवा कुछ लोगों के मतानुसार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से भी अतीत महानारायण के पूर्णावतार माने जाते हैं, मथुरा में वसुदेव तथा देवकी के पुत्र-रूप में प्रकट

। वसुदेव तथा देवकी जिस कारागृह में बन्दी थे, उसके कपाट आप-से-आप खुल जाना, शिशु कृष्ण को ले कर वसुदेव के ना नदी को पार करते समय उसका जल कम हो जाना, बाल-ग के हाथों पूतना तथा शकट, तृणावर्त्त, वत्स, धेनुक, बक, :, प्रलम्ब, केशी, चाणूर तथा कंस जैसे अन्य असुरों का संहार; त से वृक्षयोनि में उत्पन्न कुबेर के पुत्रों का उद्धार; गौओं, ड़ों तथा ग्वालबालों के खो जाने पर उनके स्थान में स्वयं हीं के सहस्रों रूप धारण; कालिय नाग का दमन; दावानल-न; गोवर्धन-धारण तथा इन्द्रमानमर्दन; सान्दीपनि के मृत-पुत्रों वापस लाना तथा कृष्ण के बाल्यकाल में ही उनके भगवत्स्वरूप प्रकट करने वाली इस प्रकार की अन्य अनेक घटनाएँ इतनी विदित हैं कि हमें यहाँ वृन्दावन में उनके बाल्यकाल की अलौ-कक लीलाओं के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है ।

श्रीकृष्ण के बाल-जीवन की सर्वाधिक कुतूहलजनक तथा हत्त्वपूर्ण घटना वह है जिसे वृन्दावन की गोपियों के साथ उनकी ासलीला कहते हैं। भाष्यकारों ने गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण की णयपूर्ण खोज तथा उनकी अनुकूल प्रतिक्रिया की व्याख्या करते ए कहा है कि यह कर्म द्वारा उनमें से प्रत्येक में उनकी आत्मा के रूप में वर्त्तमान विश्वकर्त्ता के लिए शाश्वत खोज है, जीवात्मा का परमात्मा के लिए ऐसे हर्षातिरेक भाव में अन्वेषण है जिसे बुद्धि न माप सकती है और न उसका आकलन ही कर सकती है, भगवद्भक्ति का ऐसा आनन्दोन्माद है जिसमें विचार-शक्ति मौन हो जाती है, परमात्मा की बहुविध अन्तर्व्यापकता के प्रकटीकरण अथवा वैश्व आत्माभिव्यक्ति के रूप में अनुक्रिया है तथा ऐसी समाधि की अवस्था है जिसमें व्यक्ति व्यष्टिता के बुद्बुद को विदीर्ण करने वाले प्रेमावेग में अपने व्यक्तित्व की सुधबुध खो

बैठता है तथा सर्वत्र भगवान् की सत्ता का ही दर्शन करता है निश्चय ही उस समय गोपियों की ऐसी ही अवस्था थी। उस अपर रासलीला में मानवीय कामुकता अथवा स्थूल काम-लिप्सा नाममात्र न थी; क्योंकि श्रीकृष्ण की आयु उस समय नन्हें बालक की थी जिससे इतनी अधिक सङ्ख्या में वयोवृद्ध महिलाओं के मन में काम-वासना के उद्दीपन की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। एक दूसरी व्याख्या इस घटना को ऐसा अवसर मानती है जब श्रीकृष्ण चर्मचक्षुओं को नन्हें बालक दीखते हुए भी प्रत्येक गोपी की दृष्टि में मनोहर युवा नायक के रूप में प्रकट हुए तथा अपनी योगशक्ति के प्रभाव से बहुसङ्ख्य रूप धारण कर प्रत्येक गोपी के साथ व्यक्तिशः उपस्थित रहते थे। इस विषय में परीक्षित के सन्देह प्रकट करने पर श्री शुकदेव ऋषि ने इसका समुचित उत्तर दिया। शुकदेव ने कहा: "भगवान् उनके सम्पर्क में आने वाले जीवों पर कृपा-दृष्टि करने तथा उनकी जीवनलीला की महिमा श्रवण करने वालों में भक्ति उत्पन्न करने के लिए मनुष्य-रूप में प्रकट हुए। यह आश्चर्य की बात है कि गोपियों के पतियों ने अपनी पत्नियों को कभी भी अपने से अलग नहीं पाया। भगवान् की योग-माया से वे रासलीला के समय भी उन्हें अपने पास ही समझते थे। यहाँ मानवीय मूल्यों के निर्णय क्योंकर लागू हो सकते हैं?" अपरञ्च, शुकदेव ने काम-विकार-रोग से छुटकारा पाने तथा आत्म-संयम तथा सभी वासनाओं पर प्रभुत्व-प्राप्ति के साधन के रूप में भागवत के रासलीला के अध्यायों का पाठ निर्धारित किया है।

श्रीकृष्ण का बाल-जीवन जहाँ माधुर्य भक्ति द्वारा भगवान् से मिलन के लिए भगवद्भक्ति तथा प्रेम की मृदुल भावनाओं का उद्दीपक है, वहीं उनका उत्तरकालीन जीवन मानव-उद्विकास की

पुस्तक में एक सर्वथा नवीन अध्याय खोलता है तथा व्यक्ति के मन में माधुर्य-भाव जाग्रत करता है।

श्रीकृष्ण कंस-संहार के साथ ही अपने शैशव तथा किशोरावस्था के हास-परिहास का अपना जीवन संवरण करते तथा अकस्मात् ही जीवन के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाते तथा अधर्म के सभी मूलों से संसार को मुक्त करने के कार्य की ओर अपना ध्यान पलटते हैं। विश्व के महत्तम राजनीतिज्ञ के रूप में राजनीतिक कूटनीतिज्ञता से निर्धारित तथा विश्व के महत्तम योगी के रूप में आध्यात्मिक दृष्टि से नियत अपने भावी उद्देश्यों की पूर्त्ति की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने पश्चिमी महासागर में एक विशाल तथा भव्य दुर्ग का निर्माण करवाया तथा वहाँ से लोगों की नियति पर शासन करना आरम्भ कर दिया।

श्रीकृष्ण की कौरवों की राज-सभा में द्रौपदी को अनन्त वस्त्र प्रदान करने तथा वन में उसके सम्मुख अकस्मात् प्रकट हो उससे थोड़ा भोजन माँगना और उसे ग्रहण द्वारा ऋषि दुर्वासा तथा उनके बहुसङ्ख्यक अनुयायी शिष्यों की उदर-पूर्त्ति कर उसकी चामत्कारिक रूप से सहायता करने की घटनाएँ इतनी सुविदित हैं कि उनका वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। धृतराष्ट्र की राज-सभा में श्रीकृष्ण का दौत्य-कार्य, सभा में उनका प्रसिद्ध भाषण तथा कौरवों के सम्मुख प्रदर्शित अपना विमूढ़कारक विश्व-रूप इस महान् नाटक का अद्भुत दृश्य परिलक्षित करता है। उन्होंने अपने जीवन-काल में चार बार अपना विश्व-रूप दर्शाया : प्रथम बार अपनी माता यशोदा को, द्वितीय बार कौरवों की राजसभा में, तृतीय बार युद्ध से पूर्व अर्जुन को, तथा चतुर्थ बार उत्तङ्क ऋषि को। भागवत तथा महाभारत में अभिलिखित

कुन्ती तथा भीष्म द्वारा की गयी श्रीकृष्ण की स्तुतियाँ न केवल साहित्यिक ओज की दृष्टि से अपितु श्रीकृष्णावतार के रूप में भगवान् की महिमा-गान के आदर्श की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं।

भागवत के दशम स्कन्ध में उद्धव-गीता है जिसमें उद्धव को दिये हुए श्रीकृष्ण के उपदेशों का समावेश है। यह भक्ति, योग तथा ज्ञान के दर्शनों का सुन्दर समायोजन कर उनका सार प्रस्तुत करती है। इसमें भक्ति तथा भगवत्साक्षात्कार के रूप में जीवन के उद्देश्य पर बल दिया गया है। यह समूचा पुराण ही उत्कट भगवत्प्रेम की ओजपूर्ण अटूट स्तुत्यात्मक रचना है जिसका गायन इतिहास, पौराणिक गाथा, दृष्टान्त तथा तत्त्व-ज्ञान के माध्यम से विविध रूपों में किया गया है।

वेदान्त का तत्त्वज्ञान

वेदों का चार समूहों में वर्गीकरण किया गया है जिन्हें ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व कहते हैं। ऋग्वेद मुख्यतः स्वर्ग के देवताओं से सम्बन्धित है और यह मन्त्रों का प्रमुख ग्रन्थ है। यजुर्वेद—कृष्ण तथा शुक्ल—दो पाठों में वर्गीकृत है। यजुर्वेद में मुख्य रूप से यज्ञानुष्ठान-काल में पाठ करने के लिए गद्य तथा पद्य में यज्ञीय मन्त्रों का समावेश है। सामवेद में अधिकांश पद्य ऋग्वेद के हैं जिन्हें यज्ञ-काल में गाने के लिए स्वरबद्ध किया गया है। अथर्ववेद में मुख्य रूप से अभिचार तथा वशीकरण-मन्त्रों का प्राचुर्य है, जिनका प्रयोजन पूर्णतया आध्यात्मिक न हो कर विविध प्रकार के निम्न उद्देश्यों के लिए है। प्रत्येक वेद के चार भेद हैं जिन्हें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् अथवा वेदान्त कहते हैं। वेद वे उद्‌गम तथा स्रोत माने जा सकते हैं जिनसे परवर्त्ती विचार-धारा के विकास का पता लगाया जा सकता है। वेदों की साहसिक चिन्तन-धारा तथा दार्शनिक उड़ानें उपनिषदों तथा वेदान्त-दर्शन में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचीं। बाह्य यज्ञों की अपेक्षा वन्य आश्रमों में अधिकाधिक ध्यान के लिए अपने जीवन को समर्पित करने वाले ऋषियों ने अपनी अधिकृत आध्यात्मिक

शक्ति से अन्यों की अपेक्षा अपनी वरिष्ठता का परिचय दिया ऐसे ऋषियों के रहस्योद्घाटन के सङ्कलन ने ही वेदान (उपनिषदों) की विषय-वस्तु का रूप धारण किया। उपनिष ब्राह्मणों के अधिकार अथवा यज्ञ की प्रभावोत्पादकता को अस्वी कार नहीं करतीं; किन्तु वे यज्ञीय उपासना की पृष्ठभूमि में जात हैं और उसे आध्यात्मिक साधना मानती हैं। ज्ञान की पिपास बाह्य यज्ञ के नित्यकर्म अथवा धर्मानुष्ठानों से शमित नहीं हे सकती। सृष्टि-रचना और व्यक्ति के साथ उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर सम्बन्ध के प्रश्न का उत्तर खोज निकालना आवश्यक था। ऋग्वेद की सृष्टि-रचना-सम्बन्धी स्तुति, नासदीय सूक्त, परम तत्त्व की खोज का अग्रदूत बना। बृहदारण्यकोपनिषद् में ध्यान में कल्पना करने के लिए अश्वमेध-यज्ञ को विश्व-प्रक्रिया के रूप में चिन्तन किया गया है। ऋषि ने चिन्तन के द्वारा ब्रह्माण्डीय रहस्य को सुलझाया और स्वयं को परम तत्त्व अथवा जगदीश के साथ संस्वरित किया। वे मृत्यु पर विजयी हुए तथा उन्होंने जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति प्राप्त की। वे परम विजेता माने गये। उपनिषद् के शब्दों में 'विश्व उसका हो जाता है, यही क्यों वह स्वयं विश्वरूप हो जाता है।' आध्यात्मिक अनुभूति की ऐसी गरिमा थी।

उपनिषद् इसी स्वर (लहजे) में आध्यात्मिक अनुभूति की अन्तर्वस्तु की घोषणा करते हैं और असत् को सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर उन्नत होने की आकांक्षा को अपने जीवन का लक्ष्य एवं उद्देश्य बनाते हैं।

ऋषियों में विस्मय तथा श्रद्धा उत्पन्न करने वाले औपनिषद

ब्रह्म का साक्षात्कार मानव-जाति के कुछ सर्वोत्कृष्ट कोटि के ही व्यक्ति कर पाये। उपनिषदों ने जिस मार्ग की रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसका अनुसरण करने योग्य व्यक्तियों की सङ्ख्या बहुत ही अल्प है। जो यह जान लेता है कि 'वह' 'सर्व' है 'सर्व' बन जाता है। ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म ही बन जाता है। ज्ञान शक्ति है। चित् अव्यवहित रूप से सत् तथा आनन्द है। जो व्यक्ति 'सर्व' को किसी वस्तु-विशेष में खोजता है वह 'उसे' नहीं प्राप्त करता। नित्य की प्राप्ति अनित्य द्वारा नहीं हो सकती है। स्थायी को अस्थायी द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। साधन तथा साध्य दोनों ही निरपेक्ष तत्त्व हैं।

परम सत्ता में आत्यन्तिक आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग इसकी सतत चेतना बनाये रखना है। त्याग अथवा तप का मिथ्या भाव इस प्रयास में व्यर्थ है। यद्यपि गुरु मार्ग-निर्देश कर सकता है तथापि वास्तविक आध्यात्मिक जीवन तो व्यक्ति को स्वयं ही यापन करना होता है; क्योंकि ज्ञान अथवा सत्य की अपरोक्षानुभूति ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है। एकमात्र ब्रह्म के चिन्तन, केवल उसकी वार्त्ता, परस्पर उसकी चर्चा तथा अपने जीवन के लिए उस पर निर्भरता के द्वारा निरन्तर ब्रह्माभ्यास करना ही इसकी साधना की सर्वोत्कृष्ट विधि है। यह ज्ञान-मार्ग है।

वेदान्त की नीति तात्त्विक तथा आध्यात्मिक है। वह दृढ़तापूर्वक कहती है कि मनुष्य-जीवन, जो छात्र, गार्हस्थ्य (इसमें व्यक्ति के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का भी समावेश किया जा सकता है) तथा सांसारिक जीवन की सक्रिय सहभागिता से अवकाश-ग्रहण-काल में वर्गीकृत किया जा सकता है, ब्रह्म-साक्षात्कार की तैयारी है। इस साक्षात्कार में जीवन के प्रत्येक

लक्ष्य की पूर्त्ति हो जाती है तथा यह सभी कामनाओं तथा आकांक्षाओं की चरम परिणति तथा उद्देश्य है। जो धीर पुरुष इस तरह का साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं वे इहलोक और परलोक की कामैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठ जाते हैं; क्योंकि उनके लिए स्वयं निरपेक्ष ब्रह्म ही जगत् तथा आत्मा है, सबका एक में ही समावेश है। ये धीर पुरुष किसी से अथवा कहीं से कुछ भी नहीं चाहते और ब्रह्म, जो उनकी आत्मा है, के आनन्द में स्थित रहते हैं।

किन्तु ऐसे उच्च कोटि के आध्यात्मिक अनुभव केवल उन्हीं को सुलभ होते हैं जो मानसिक शान्ति, आत्म-संयम, कर्त्तव्य-कर्म-राहित्य, धैर्य, आदर्शनिष्ठा तथा मन की एकाग्रता की शक्ति से सम्पन्न हों। वेदान्त दृढ़तापूर्वक कहता है कि 'जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि उसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। जब इसके हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है तब वह मरण-धर्मा मनुष्य अमर हो जाता है।' बस, वेदान्त का यही परमोपदेश है। इस भाँति उपनिषद् मानव-विचारणा के चरम बिन्दु हैं—एक ऐसी ऊँचाई हैं जो उसने न तो पूर्व अथवा पश्चात् ही प्राप्त की है। वे न केवल भारत की वरन् विश्व की संस्कृति के गौरव तथा निधि हैं।

—❀—

परिशिष्ट

विपत्तियों तथा विपर्ययों के मध्य*

आपने चाहा था कि यदि मैं आवश्यक समझूँ तो कुछ परामर्श दूँ। आपने यह लोकोक्ति सुन ही रखी है कि यात्रा का पाथेय तथा दूसरों से प्राप्त उपदेश अधिक समय तक नहीं टिका करते। भले ही दूसरों के उपदेश हमारा मार्ग स्पष्ट कर सकें; पर हमारे सम्प्रत्यय ही हमारे पथ-प्रदर्शक हैं।

अब हम विषय पर आते हैं। हम इसलिए दुःखी नहीं हैं कि हम बुद्धिमान् नहीं हैं वरन् इसलिए कि हम जिन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में रह रहे हैं उसके उपयुक्त अपने ज्ञान का प्रयोग हम नहीं कर पा रहे हैं।

अनुपयुक्त स्थान तथा अनुपयुक्त समय में ज्ञान ने अनेक दार्शनिकों को सन्ताप में डाल दिया है। व्यक्ति को बहुत अधिक, निर्धारित सीमा से अधिक बुद्धिमान् बनने की चाह नहीं करनी चाहिए। मेरे विचार में, अपने को परिस्थितियों के अनुकूल

*एक भक्त के नाम लिखे गये पत्र का मुख्यांश।

बनाना तथा समायोजित करना; पर साथ ही हम यहाँ विनम्रत
पूर्वक जो-कुछ भी करना चाहते हैं उस सबको भगवान् व
सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता में पूर्ण विश्वास का मायिक रूप
देना इस भूलोक को स्वर्ग में परिणत करने की उदात्त आकांक्ष
से कहीं श्रेष्ठतर है जिसे बुद्ध तथा यीशु ने भी नहीं किया। सच्चे
ज्ञानी पुरुष उन अनेक विषयों से उदासीन रहते हैं जिनमें
अधिकांश लोग गहन रुचि लेते हैं और निस्सन्देह इसका समुचित
कारण है। प्रकृति विकर्षण नहीं आत्मसात्करण की विधि से
कार्य करती है। प्रारम्भिक पार्थक्य भी उच्चतर अन्तर्वेशन के
लिए ही होता है।

यदि आप सुखी रहना चाहते हैं तो वर्त्तमान का भावी
आदर्श अथवा उस मानदण्ड के साथ निर्णय न करें जो होना
चाहिए; क्योंकि 'चाहिए' 'है' से भिन्न है। यद्यपि आदर्श को
हमारी वर्त्तमान प्रवृत्तियों का निर्देशन करना चाहिए; किन्तु यह
हमें इन दोनों की तुलना करने की ओर न ले जाये और हमें
निराश न बनाये। अभी आप वस्तुस्थिति से असन्तुष्ट प्रतीत
होते हैं; क्योंकि आप उसकी तुलना ऐसे आदर्श से कर रहे हैं
जिसे अभी अस्तित्व में आना है, और जो आपके मन में है। जब-
कि आदर्श का होना अच्छा है और हमें अपने उन्नत मनोभाव में
बने रहने के लिए आदर्श को वहाँ सदा रहना ही चाहिए; किन्तु
हमें भावी आदर्शों से अपने में भेद करने वाली वर्त्तमान परि-
स्थितियों के कारणों को विस्मृत कर सिद्धान्त-स्थापक नहीं बनना
चाहिए। हमारा कर्त्तव्य समझना है, निर्णय करना नहीं। 'निर्णय
न करें; क्योंकि ऐसा न हो कि आपके साथ भी निर्णय किया
जाय।' तत्त्वतः वस्तुओं में सुन्दरता देखना वास्तविक सद्गुण है,

योंकि तथाकथित असुन्दरता भगवान् की माया का ही एक हलू है।

'**निमित्तमात्रं भव**—काम में केवल निमित्तमात्र हो जायें।' नेमित्त (उपकरण) को निर्णय करने अथवा अपना मत रखने का कोई अधिकार नहीं होता है। उसे वस्तुओं को उनके तात्कालिक रूप में ग्रहण करना होता है और जब वस्तुएँ व्यक्ति के नियन्त्रण से बाहर हो जायें तो उन्हें भगवान् पर छोड़ देना चाहिए और उस विषय में शोक नहीं करना चाहिए। अपनी भावनाओं को उलझाये अथवा कुछ वस्तु-विशेष अथवा विचार-प्रणाली के लिए किसी पूर्वाग्रह के बिना अपनी क्षमता के भीतर कार्य कीजिए। इसे समझना कठिन है और इसे आचरण में लाना तो और भी कठिन है; किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

व्यक्ति में अनेक मनोविकार होते हैं। उनमें से एक अहङ्कार है जो अपने विचारों को संसारभर में प्रदर्शित करना चाहता है। लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि उनके विचार दूसरों के विचारों के विरुद्ध सदा अभिभावी हों। विचार दूसरों पर प्रभुत्व जमाने अथवा उन्हें दूसरों के मन में थोपने के लिए नहीं हुआ करते, वरन् अभिव्यक्त करने और कभी-कभी सुझाव देने के लिए होते हैं और जब वे दूसरों के स्वीकरण के रूप में मूर्त रूप नहीं लेते तो उससे कोई आन्तरिक यन्त्रणा अथवा खीज नहीं होनी चाहिए। हम इसलिए नहीं सोचते कि हमारे विचार अन्य व्यक्तियों द्वारा अभिग्रहीत हों; क्योंकि गुण-ग्रहण दूसरों के मन पर लादा नहीं जा सकता है। हम ब्रह्माण्डीय यन्त्र में दन्तचक्र के समान हैं और यन्त्र चक्र को अपने-आपसे गति दे कर चलता है। यन्त्र-चालक चीजों को अच्छी तरह जानता है। चक्र को

अनुचित रूप से हस्तक्षेप करने अथवा टक्कर मारने का कोई काम नहीं है, मानो कि वह कोई स्वतन्त्र वस्तु हो। इसका कर्त्तव्य मात्र सहयोग करना है न कि अधिकार जताना। मेरे विनम्र विचार में गीता के कर्मयोग का अभिप्राय है—सार्वभौम सत्ता के अनुरूप रहना।

हाँ, आपको इस संसार में पूर्णतः निस्स्वार्थ व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सकते। जो निस्स्वार्थ हैं वे केवल सप्रतिबन्ध ऐसे हैं। वे कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत भले हैं। उनकी इच्छाओं की अवज्ञा कीजिए तो वे भिन्न व्यक्ति बन जाते हैं। यह खेद का विषय है कि मानव-प्राणियों में जो सशपथ प्रेम-बन्धन में बँधे हुए हैं, वे जब समाज में स्पृहणीय पद धारण करें तो रातभर में ही उनमें मन-मुटाव हो जायें और अतीत के सम्बन्ध टूट जायें मानो वे कभी थे ही नहीं और सत्ता तथा धन नामक प्रकृति के माया के प्रकट होते ही पारस्परिक सन्देह, अविश्वास तथा घृणा का सर्वथा नवीन जीवन आरम्भ हो। ये दैत्ययुग्म सार्वजनिक तथा वैयक्तिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रवेश पाते हैं। अतएव, जो शैतान की इन सूक्ष्म चालबाजियों से सुप्रभाव्य है, ऐसे किसी व्यक्ति को अपने ऊपर प्रभुत्व प्राप्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दो स्थूल-तर रूप हैं जिनमें प्रकृति की प्रेरणाएँ मनुष्य के शरीर में अपने को अभिव्यक्त करती हैं—कामवासना तथा स्वाभिमान। इन मर्मस्थलों में अल्पतम हस्तक्षेप भी व्यक्ति में रोषपूर्ण प्रतिशोध की लहर उत्पन्न कर देता है। यह कोई आश्चर्य नहीं कि संसार-व्याधि के पर्याप्त कारणों वाली यह चौगुनी मूल है।

कर्म बड़े ही षड्यन्त्रपूर्ण और प्रायः कष्टप्रद विधि से कार्य करते हैं। इसमें सन्देह करने की अब आवश्यकता नहीं है कि हमारा

सभी अनुभूतियाँ हमारे अतीत के कर्मों के कारण हैं; क्योंकि प्रत्येक घटना का कारण होना चाहिए और यदि हमारे कर्म हमारे सुख-दुःख के कारण नहीं हैं तो हम उन्हें अन्य किस पर आरोपित कर सकते हैं? वे भगवान् से सम्बद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि वह पूर्वाग्रह तथा पक्षपात से रहित है, अतएव उन्हें व्यष्टिपरक अनुभवों के वैविध्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। यह कर्म ही कारण है।

जाता है, जब अधिकार तथा प्रताप में उन्नति करने पर हमारे मित्र हम पर निष्ठुर प्रहार करते हैं, जब हमारी धर्मपरायणता उन लोगों के आत्म-सन्तोष तथा अभिमान में पड़ कर दृष्टि से ओझल कर दी जाती है जो दूसरों को समझना नहीं चाहते, तो हम दुःखी होते हैं और अपने को कोसते हैं।

भले ही आपको मानव-प्रकृति की अनेक कमियों का ज्ञान हो; किन्तु कोई परिवाद न करें, जनता के नेत्रों के प्रदर्शन बनने की कामना न करें, दूसरों के मन में बलात् कोई विचार न थोपें, अमुक-अमुक चीजें नहीं हुई हैं, इसके लिए शोक न करें। क्यों ? क्योंकि मेरे विचार में व्यक्ति को अपने सुख की खोज कुछ करने में नहीं वरन् कुछ अन्य बनने में करनी चाहिए। जब तक यह प्राप्त नहीं कर लिया जाता तब तक न तो काम में और न जो वस्तुएँ हम प्राप्त करते हैं उनमें ही आनन्द मिल सकता है। वे केवल हमारे दुःख के लिए ही होंगी।

भगवान् इस संसार को, जो अनेक बुराइयों से पूर्ण है, सहन करते हैं, यह अब भी इस अवस्था में भी उनका ही है। अतएव निकृष्टतम के साथ भी धैर्य तथा सूझबूझ से काम लेना चाहिए, जिससे कि हम जो लोगों का भला करने का प्रयास कर रहे हैं उसके लिए कृतघ्नता से अपमानित होने पर भी हम अपने अन्दर शान्त रह सकें। यूनान के पेरिक्लेस ने अपने देश की स्थिति को स्वर्ण-युग और उसके वैभव को शिखर पर ला खड़ा किया; किन्तु उसके ही देशवासियों ने उसे पत्थर मार-मार कर मार डाला। चूँकि भगवान् के ढङ्ग रहस्यमय होते हैं, हमें इस रहस्य के ज्ञान के अवतरण के लिए एक सेवक की भाँति धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए और हृदय से खिन्न नहीं होना चाहिए; क्योंकि किसी

से प्रसन्न होने का हमारा कोई काम नहीं है, यद्यपि खिन्न
र भी हम अपना कर्त्तव्य करते हैं मानो कि हम इन बातों
न्न हों। हम जो-कुछ करना चाहते हैं उसके लिए हममें न
पेक्षित ज्ञान है और न शक्ति; और तब युक्ति क्या है?
और शोक करना निश्चय ही नहीं। भगवान् महान् हैं, इस
ास से अपने को उठाना, सदा सुलभ मार्ग है।

हमारा महत्त्व तथा सुख सदा इस बात पर निर्भर नहीं करना
ए कि दूसरे हमारे विषय में क्या सोचते अथवा अनुभव करते
हमारी नियति, हम भगवान् की दृष्टि में जो-कुछ हैं उस
निर्भर करती है। मेरी समझ में यह आपके सभी प्रश्नों का
र प्रस्तुत करता है। अपना कर्त्तव्य करें भले ही संसार
मान न करे। किन्तु यह जानना सरल नहीं है कि किसी
श्चित समय में हमारा कर्त्तव्य क्या है? इस तथ्य के होते हुए
कि सभी व्यक्तियों का सामान्य कर्त्तव्य है—भगवत्साक्षात्कार,
शेष कर्त्तव्य प्रत्येक परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।
ारे अधिकांश दुःख तथा शोक इस कारण हैं कि हम अपने
नेक जीवन में इन बदलते हुए विशेष कर्त्तव्यों से अवगत नहीं
और हम प्रत्येक व्यक्ति के साथ तथा सभी वस्तुओं के साथ
दा एक ही मापदण्ड का प्रयोग करने की भूल करते हैं। स्वयं
गवान् भी बदलते हुए समय की परिस्थितियों के अनुसार अपने
यमों का समायोजन करते रहते हैं, तब फिर हम क्यों न करें।

परिस्थिति से अपने को समायोजित करने की यह उत्कृष्ट
ला दम्भ से भिन्न होनी चाहिए जो कि स्वार्थपरता से उत्पन्न
त्रिम अभिवृत्ति है। यही कारण है कि सच्चे ज्ञान का जीवन-
ापन करना बहुत ही कठिन है। प्रतीयमानतः एक धर्म में भी

भेद की हलकी छायाएँ हैं, हमारे विचार, हमारी भावनाएँ तथा हमारे कर्म जिस उच्चतम उद्देश्य के लिए हम यहाँ रह रहे हैं, उसे विफल न कर दें। अन्यथा यह उपयुक्त समायोजन नहीं होगा। "हमें संसार से बचना नहीं चाहिए और न हमें इस प्रकार रहना चाहिए कि संसार हमसे बचे।" यह आत्मसमायोजन का रहस्य है। इसके साथ ही हमें अपना वास्तविक लक्ष्य विस्मृत नहीं करना चाहिए। भगवान् हमें आशीर्वाद दें।

* ॐ *

दिव्य जीवन संघ

(डिवाइन लाइफ सोसायटी)

की सदस्यता

डिवाइन लाइफ सोसायटी (The Divine Life Society) एक सम्प्रदाय-निरपेक्ष संस्था है जिसके विशाल दृष्टि-क्षेत्र में सभी धर्मों के और सामान्य रूप से आध्यात्मिक जीवन के सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्त समाहित हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसकी सत्य, अहिंसा तथा शुचिता के आदर्श में निष्ठा है, इस संस्था का सदस्य बन सकता है। यह संस्था सभी वादों और धार्मिक रूढ़ियों को समान रूप से सम्मान प्रदान करती है। संस्था के सिद्धान्तों, दार्शनिक मान्यताओं तथा उपदेशों में सभी मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अनुकलन होने से इसके सदस्यों की पारस्परिक भूमिका तथा धार्मिक मान्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे इनके आधार पर न तो मतभेद को मान्यता देते हैं और न विघटनकारी मनोवृत्तियों को ही प्रश्रय देते हैं। सच्चे आत्म-ज्ञान में तथा 'अहं को विलय कर उसकी परिधि से ऊपर उठ जाने में ही आध्यात्मिक साधना का रहस्य निहित है'—इस तथ्य को प्रकट करने तथा प्रत्येक प्राणी में भागवतीय चेतना की